Article - 8

(हंस, जनवरी, 2010)

जाति, नीति एवं न्याय: भारत में सामाजिक न्याय की विडंबना

(अमर्त्य सेन की पुस्तक : द आइडिया ऑफ जस्टिस)

"Lives of people were nasty, brutish and short"
Thomas Hobbes,1651

हंस के अक्टूबर, 2009 के संपादकीय को पढ़कर जेहन में सवाल उठा कि क्या भारतीय समाज का जातीय ढांचा मंडल और कमंडल के बाद और मज़बूत हुआ है ? दो दशकों पहले शुरू हुए मंडल और कमंडल के द्वंद्वात्मक आंदोलनों की परिणति क्या इसी में होनी थी कि हमारे आइकॉनिक बुद्धिजीवी अपनी-अपनी जाति की मांद में घुसे जा रहे हैं : चाहे 'ब्राह्मण गर्व' हो या 'सिंह नाद' या कथा-कविता का भी 'जातीय विभाजन'- यह सब सोचने को मजबूर करता है कि जो जातीय ढांचा वर्षों पहले चूर-चूर हुआ माना जा रहा था, वह अब राजनीति ही नहीं साहित्यिक विमर्श का भी नियामक होता जा रहा है। ऐसा क्यों ?

जाति-व्यवस्था के अतीत-उत्खनन में न जाते हुए, इसकी वर्तमान यात्रा पर नज़र डाली जाए तो आज़ादी के बाद माना गया था कि औद्योगिकीकरण, शहरीकरण, सार्वभौमिक मताधिकार पर आधारित लोकतांत्रिक प्रणाली में जाति-व्यवस्था ध्वस्त हो जाएगी। लेकिन शहरी लोगों में ख़ासकर हिंदी-पट्टी के लोगों में तो गांवों से भी ज्यादा जातिवादी सुरक्षा कवच की तलाश दिखाई दे रही है। संभवत: इसका कारण शहरी जीवन द्वारा पैदा की गई रोजमर्रा की भावनात्मक असुरक्षा है। विस्थापित व्यक्ति अपने

स्थान से ही नहीं बल्कि अपने पुराने सामाजिक-पारिवारिक सुरक्षा कवच से भी विस्थापित हुआ है। उसने अपने को आधुनिक व्यवसाय के काबिल तो बना लिया लेकिन आधुनिक जीवन की व्यक्तिवादी प्रवृति से उत्पन्न असुरक्षा से डरा वह भागता है वापस अपने कुनबे में। कहीं जाति के नाम पर तो कहीं उपजाति के नाम पर, कहीं धर्म के नाम पर तो कहीं संप्रदाय के नाम पर आज आम लोग तो आम लोग, हर तरफ मची बुद्धिजीवियों की भी हाय-तौबा इसका ज्वलंत उदाहरण है।

आज हर कोई अपने को अन्याय से ग्रस्त घोषित करता दिखाई दे रहा है। सवर्णों को लगता है कि आरक्षण ने मार डाला ! दलित-गरीब-पिछड़ों को लगता है कि 10-20 प्रतिशत सवर्ण कब तक हमारी बहुसंख्या के बावजूद 80-90 प्रतिशत प्रभावशाली पदों पर काबिज रहेंगे। नतीजा इस रूप में सामने आया कि जाति-दर-जाति अन्याय के अपने-अपने किस्से और हर व्यक्ति की अपनी अन्याय गाथा अलग! आख़िर इतना अन्याय एक आधुनिक प्रजातांत्रिक समाज में क्यों है ? और इसका समावेशी निवारण क्या है ?

इन्हीं तमाम मुद्दों और सवालों के जवाब ढूंढ़ने का प्रयास किया है मैंने, नोबेल पुरस्कार से सम्मानित अमर्त्य सेन की हाल में प्रकाशित पुस्तक 'द आइडिया ऑफ जस्टिस' में। अमर्त्य सेन की पुस्तक मूलतः इसी विषय पर जॉन रॉल्स द्वारा लिखी गई विश्व प्रसिद्ध पुस्तक ' द थ्योरी ऑफ जस्टिस'के बरक्स लिखी गई है। इतिहास गवाह है कि हर युग में समाज का बहुत बड़ा तबका, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक रूप से हाशिए का जीवन जीने को मजबूर है। बहुसंख्य तबके की इसी मजबूरी से ही समाज में न्याय और अन्याय के मुद्दे उठते रहे हैं। मानव सभ्यता की शुरुआत से ही न्याय-अन्याय की गाथा अनवरत चलती आ रही है। प्लेटो, कौटिल्य, बुद्ध द्वारा न्यायसम्मत समाज-राज्य की व्यवस्था की अपनी-अपनी स्थापनाएं दी गईं। आधुनिक युग में न्याय चिंतक जॉन स्टुअर्ट

मिल द्वारा 'यूटिलिटेरियन' यानी उपयोग पर आधारित न्याय-व्यवस्था की स्थापना दी गई जिसके अनुसार जो जिस योग्य है उसी के मुताबिक उसे न्याय हासिल होगा। इसके विपरीत जॉन रॉल्स ने 'निष्पक्ष' न्याय-व्यवस्था की स्थापना दी, जिसके अनुसार एक व्यक्ति निष्पक्ष ढंग से ऐसी न्याय-व्यवस्था स्थापित कर सकता है जिसमें बहुसंख्य लोगों को अधिकतक लाभ मिल सके। लेकिन ऐसा निष्पक्ष व्यक्ति कौन हो सकता है और ऐसी न्याय-व्यवस्था की स्थापना कैसे हो- इन्हीं तमाम जटिलताओं पर अमर्त्य सेन ने इस पुस्तक में विचार-विश्लेषण किया है।

जॉन रॉल्स की सैद्धांतिकी संस्थागत-न्याय प्रक्रिया पर आधारित थी। जबकि अमर्त्य सेन ने एडम स्मिथ और कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित 'तार्किक-तुलनात्मक' न्याय-पद्धति को आगे बढ़ाया है। मूलतः उनके विचार यूरोपीय ज्ञान-धारा को प्रतिबिंबित करते हैं लेकिन उन्होंने 'नीति' और 'न्याय' की भारतीय न्याय-विचारधारा का भी उल्लेख किया है। अमर्त्य सेन ने नीति और न्याय के आधार पर रॉल्स की सैद्धांतिकी को 'नीति' एवं अपनी सैद्धांतिकी को 'न्याय' पर आधारित बताया है । नीति संस्थागत न्याय-व्यवस्था पर आधारित है जिसका आधार 'सोशल कॉन्ट्रैक्ट' है। जबकि 'न्याय' यथार्थ में उपस्थित या अनुपस्थित सामाजिक न्याय पर आधारित है, जो 'सोशल च्वॉयस' पर केंद्रित है।

उन्होंने बुद्ध के एक उदाहरण के ज़रिए अपने विचारों को स्पष्ट करने की कोशिश की है कि मानवीय संबंधों पर आधारित न्याय की परिकल्पना जो मां-बच्चे के संबंधों में प्रतिबिंबित होती है, वह किस तरह संस्थागत-सोशल कॉन्ट्रैक्ट पर आधारित न्याय प्रणाली से बेहतर होगी। परंतु अमर्त्य सेन के विचारों का विरोधाभास इस तथ्य से ज़ाहिर होता है कि वर्तमान आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था ही मूलतः उपभोक्तावाद पर आधारित है। जिस व्यवस्था का मूल ही उपभोग है, उसमें मां-बच्चे जैसे मानवीय संबंध पर आधारित न्याय-व्यवस्था की परिकल्पना कैसे की जा सकती है?

इस पुस्तक में सेन ने न्याय विषय पर पहले के सिद्धांतकारों तथा राजनीतिक दार्शनिकों के विचारों का विस्तार से अकादमिक विश्लेषण किया है। नीति और न्याय से संबंधित मनु के विचारों का भी सेन ने विश्लेषण किया है। मनु की कट्टर विचारधारा को सेन ने नकारा नहीं है लेकिन न्याय-अन्याय की जड़ें किस तरह भारत की 'मनुवादी' जातीय-सामाजिक संरचना में अंतर्निहित हैं, इसका विश्लेषण सेन ने अपनी इस पुस्तक में नहीं किया है। जो जाति-व्यवस्था आज तक बड़े-बड़े बुद्धिजीवियों को जकड़े हुए है, उसकी जड़ों का विश्लेषण किए बग़ैर सामाजिक न्याय की परिकल्पना सैद्धांतिकी मात्र ही रह जाएगी, जैसा इस पुस्तक में हुआ है। भारतीय संदर्भ में जबतक हज़ारों साल पुरानी जाति आधारित भारतीय सामाजिक संरचना में अंतर्निहित असमानता, अन्याय के सामाजिक-आर्थिक कारणों का विश्लेषण एवं समाधान नहीं किया जाता तबतक भारत में सामाजिक न्याय कोरी विडंबना बन कर रह जाएगा। महात्मा गांधी एवं डॉ भीमराव अंबेडकर ने अपने लेखों एवं सामाजिक आंदोलनों द्वारा भारतीय समाज में न्याय-अन्याय का ज्यादा समतामूलक विश्लेषण और समावेशी निदान प्रस्तुत किया है।

उपरोक्त कारणों से भारत में मुकम्मल सामाजिक न्याय की स्थापना काफी कठिन चुनौती है क्योंकि इसके साथ ही कानून और न्याय, राज्य और न्याय, समाज और न्याय के प्रश्नों की जटिलताएं जुड़ी हुई हैं। उदाहरण के तौर पर, समकालीन भारत में संस्थागत न्याय-व्यवस्था के प्रतिरोध में उभरी कहीं 'जाति-सेनाएं' हैं, तो कहीं 'नक्सलवादी' हैं जो अपने स्तर पर ही 'न्याय' दिलाने का दावा करते हैं। प्रजातांत्रिक चुनाव प्रणाली ने राजनीतिक भागीदारी तो बढ़ाई है लेकिन रोटी-कपड़ा-मकान और बिजली-सड़क-पानी हर वर्ग को प्रदान करने की ज़िम्मेदारी कौन निभाएगा? मौजूदा हालात में मुकम्मल सामाजिक न्याय की स्थापना क्या सिर्फ राज्य के भरोसे हो पाएगी?

विश्व प्रसिद्ध सर्वप्रथम आधुनिक न्याय चिंतक थॉमस हॉब्स ने 1651 में न्याय के सिद्धांत के प्रतिपादन के तौर पर बहुत मार्मिक और गहरी बात कही थी, " Lives of people were nasty, brutish and short ." अमर्त्य सेन ने अपनी पुस्तक के अंत में थॉमस हॉब्स की सदियों पुरानी इसी उक्ति के माध्यम से अपनी सैद्धांतिकी को पुष्ट किया है। सेन ने कहा है कि न्याय की बात हम इसलिए सोचते हैं क्योंकि हम इंसान हैं, हमारे पास सोचने-विचारने की क्षमता है। इंसान के पास अगर अत्याचार-भ्रष्टाचार-उत्पीड़न के खिलाफ आवाज़ उठाने की ताकत और संवेदना नहीं होती तो वह न्याय-अन्याय के बारे में सोच ही नहीं पाता।

विडंबना यह है कि तमाम विकास के बावजूद आज भी मानव समाज का बड़ा हिस्सा भूख, बीमारी, उत्पीड़न, दमन और शोषण का शिकार है। दरअसल मानव-सभ्यता की शुरुआत से ही न्याय-अन्याय के मुद्दे सामाजिक चिंतकों को उद्वेलित करते रहे हैं कि मानव समाज को ' मत्स्य न्याय' (जहां बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है) से कैसे बचाया जा सके? समकालीन भारत में भी जाति, नीति और न्याय की तमाम जटिलताओं के बावजूद प्रजातांत्रिक प्रणाली में सिविल-समाज की जागरुकता और सक्रिय भागीदारी बढ़ाकर हम मुकम्मल सामाजिक न्याय की नई परंपरा का आग़ाज़ अवश्य कर सकते हैं। इस दिशा में अमर्त्य सेन की इस पुस्तक का काफी अहम योगदान है।

-X-X-X